जैन संघ में भिक्षुणियों की शील-सुरक्षा का प्रश्न

अरुण प्रताप सिंह

जैन ग्रन्थों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल से ही जैन संघ में भिक्षुणियों की संख्या भिक्षुओं से अधिक रही है। कल्पसूत्र के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के चौरासी हजार भिक्षु तथा तीन लाख भिक्षुणियाँ थीं[1]; अरिष्टनेमि के अठारह हजार भिक्षु तथा चालीस हजार भिक्षुणियाँ थीं[2]; पार्श्वनाथ के सोलह हजार भिक्षु तथा अड़तीस हजार भिक्षुणियाँ थीं[3]; तथा महावीर के चउदह हजार भिक्षु तथा छत्तीस हजार भिक्षुणियाँ थीं।[4] संघ में भिक्षुणियों की अधिक संख्या ने जहाँ एक ओर धर्म के प्रसार को अति व्यापक बनाया, वहीं दूसरी ओर भिक्षुणियों की शील-सुरक्षा के प्रश्न को भी महत्त्वपूर्ण बना दिया। जैन आचार्यों के समक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न भिक्षुणियों की शील-सुरक्षा का था, एक स्त्री जब भिक्षुणी बन जाती थी, तो उसकी सुरक्षा का पूरा उत्तरदायित्व संघ पर आता था। जैन संघ में भिक्षुणियों की शील-सुरक्षा किस प्रकार की जाती थी, इस सम्बन्ध में हमें नियमों की एक विस्तृत रूप-रेखा प्राप्त होती है।

उपाश्रय में भिक्षुणी को कभी भी अकेला नहीं छोड़ा जाता था। यात्रा के समय उन्हें सुरक्षित आवास में ही ठहरने का निर्देश दिया गया था। सुरक्षित आवास न प्राप्त होने पर शील-सुरक्षा हेतु अनेक वैकल्पिक नियमों का विधान किया गया था। अनावृत द्वार वाले उपाश्रय में ठहरना भिक्षुणी के लिए निषिद्ध था। परन्तु आवृत द्वार वाले उपाश्रय के न मिलने पर वह अनावृत द्वार के उपाश्रय में रह सकती थी, यद्यपि इसके लिए निम्न सावधानियाँ रखी जाती थीं[5]। अनावृत द्वार को छिद्र रहित पर्दे से दोनों ओर कसकर बाँधा जाता था। बन्धन अन्दर से ही खुलता था। उसके खोलने के रहस्य को या तो प्रतिहारी जानती थी या वह जो सिकड़ी बाँधती थी, अन्य कोई नहीं। सूत्रों के अर्थ में पारंगत (सम्यगधिगतसूत्रार्था), उच्चकुल में उत्पन्न (विशुद्ध-कुलोत्पन्ना), भयहीन (अभीरु), गठीले शरीर वाली (वायामियसरीर) बलिष्ठ प्रतिहारी उपयुक्त मानी जाती थी। वह हाथ में मजबूत डण्डा लेकर द्वार के पास बैठती थी, जो कोई भी भिक्षुणी-वेश में उपाश्रय के अन्दर प्रवेश करने का प्रयत्न करता था, प्रतिहारी भिक्षुणी उसकी पूरी जाँच करती थी। वह आगन्तुक के सिर, गाल, छाती का भली प्रकार स्पर्श कर पता लगाती थी कि आने वाला व्यक्ति स्त्री है या पुरुष। फिर वह उसका नाम पूछती थी। इन सारी क्रियाओं के बाद जब वह सन्तुष्ट हो जाती थी कि वह भिक्षुणी ही है, तभी प्रतिहारी आगन्तुक को उपाश्रय के अन्दर प्रवेश की आज्ञा देती थी। उपाश्रय के अन्दर उसे देर तक रुकने या व्यर्थ का वार्तालाप करने की आज्ञा नहीं थी। यदि इन सारी सतर्कताओं के बावजूद भी कोई दुराचारी व्यक्ति उपाश्रय में प्रविष्ट हो जाता था, तो सभी भिक्षुणियाँ मिलकर भयंकर कोलाहल करती थीं। वे प्रविष्ट चोर या कामी पुरुष को

---

१. कल्पसूत्र, 197 पृ० 266।
२. वही, 166 पृ० 236।
३. वही, 157 पृ० 220।
४. वही, 133-34, पृ० 198।
५. बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, 2331-52।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डण्डे से पीटती थीं। पहले वृद्धा भिक्षुणी (स्थविरा), फिर युवती भिक्षुणी, फिर वृद्धा—इस क्रम से वे अपने शील की रक्षा के लिए व्यूह रचना करती थीं। अनावृत द्वार वाले उपाश्रय में भिक्षुणियों को जोर-जोर से पढ़ने के लिए कहा गया था। उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी दुराचारी पुरुष स्त्री-वेष धारण कर भिक्षुणियों के उपाश्रय में पहुँच जाते थे। इसके निराकरण हेतु ही यह व्यवस्था की गयी थी। इसके अतिरिक्त ऐसे उपाश्रयों या शून्यागारों में भिक्षु को भी बाहर से साध्वियों की रक्षा करने को कहा गया था[1]। युवती साध्वी की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता था। उपाश्रय में पहले वृद्धा (स्थविरा) भिक्षुणी, फिर तरुणी भिक्षुणी, उसके पश्चात् पुनः वृद्धा भिक्षुणी, फिर तरुणी भिक्षुणी, इस क्रम से उनके शयन करने का विधान था[2]। इसका तात्पर्य यह था कि प्रत्येक युवती भिक्षुणी के आस-पास वृद्धा भिक्षुणियाँ शयन करें ताकि उसके शील की सुरक्षा की सुदृढ़ व्यवस्था रहे।

उपाश्रय में भिक्षुणी को कभी अकेला नहीं छोड़ा जाता था। गच्छाचार के अनुसार गच्छ में रहने वाली साध्वी रात्रि में दो कदम भी बाहर नहीं जा सकती थी।[3] उन्हें आहार, गोचरी या शौच के लिये भी अकेले जाना निषिद्ध था।[4] वस्त्र के सम्बन्ध में अत्यन्त सतर्कता रखी जाती थी। बृहत्कल्पभाष्य तथा ओघनिर्युक्ति में भिक्षुणियों द्वारा धारण किये जाने वाले ग्यारह वस्त्रों का उल्लेख है। रूपवती साध्वियों को "खुज्जकरणी" नामक वस्त्र धारण करने की सलाह दी गई थी ताकि वे कुरूप सी दीखने लगें।[5] भिक्षुणियाँ अपने प्रयोग के लिये डण्ठल युक्त तुम्बी तथा डण्डेवाला पाद पोंछन नहीं रख सकती थीं।[6] इसी प्रकार भोजन में अखण्ड केला आदि (तालप्रलम्ब) ग्रहण करना निषिद्ध था।[7] यह विश्वास किया गया था कि इस प्रकार के लम्बे फलों के फलक को देखकर भिक्षुणियों में काम-वासना उद्दिप्त हो सकती है। भिक्षुणियों के लिये पुरुष स्पर्श सर्वथा निषिद्ध था। अपवाद अवस्था में भी उन्हें यह निर्देश दिया गया था कि पुरुष-स्पर्श से उद्भूत आनन्द का आस्वाद न लें। साध्वी को बीमारी से कमजोर हो जाने के कारण या कहीं गिर जाने के कारण यदि पिता-भ्राता-पुत्र अथवा अन्य कोई पुरुष उठावे तो ऐसे पुरुष-स्पर्श को पाकर[8] अथवा मल-मूत्र का त्याग करते समय यदि पशु-पक्षी उसके अंगों को छू लें[9] तो ऐसे स्पर्श को पाकर, उससे उत्पन्न काम-वासना के आनन्द से विरत रहने को कहा गया था; अन्यथा उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त के दण्ड का भागी बनना पड़ता था। संक्षेप में भिक्षुणियों को यह कठोर निर्देश दिया गया था कि वे किसी भी परिस्थिति में पुरुष के स्पर्श का आनन्द या आस्वाद न लें।

---

१. "बहिरक्खियाउवसहेंहि" —बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, 2324, पृ० 658।
२. गच्छाचार, 123, पृ० 52।
३. वही, 108, पृ० 46।
४. बृहत्कल्प सूत्र, 5/16-17, पृ० 149।
५. "खुज्जकरणी उ कीरइ रूववईणं कुडहहेउं"—ओघनिर्युक्ति, 319।
६. बृहत्कल्प सूत्र, 5/38-44, पृ० 153-155।
७. वही, 1/1, पृ० 1।
८. वही 4/14, पृ० 138।
९. वही, 5/13-14, पृ० 147-148।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके अतिरिक्त भिक्षुणियों के शील-रक्षा का उत्तरदायित्व भिक्षु-संघ पर भी था। उनके शील-रक्षा के निमित्त महाव्रतों का उल्लंघन भी किसी सीमा तक उचित मान लिया गया था। संघ का यह स्पष्ट आदेश था कि भिक्षुणी की शील-रक्षा के लिये भिक्षु हिंसा का भी सहारा ले सकते थे। निशीथ चूर्णि[1] के अनुसार यदि कोई व्यक्ति साध्वी पर बलात्कार करना चाहता हो, आचार्य अथवा गच्छ के वध के लिए आया हो, तो उसकी हत्या की जा सकती है। इस प्रकार की हिंस करने वाले को पाप का भागी नहीं माना गया था, अपितु विशुद्ध माना गया था। मन्त्रों एवं अलौकिक शक्तियों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। कालकाचार्य ने अपनी भिक्षुणी बहन को छुड़ाने के लिये विद्या एवं मन्त्र का प्रयोग किया था एवं विदेशी शकों की सहायता ली थी। इसी प्रकार शशक एवं भसक नामक जो भिक्षुओं का उल्लेख मिलता है, जो अपनी रूपवती भिक्षुणी बहन सुकुमारिका की हर प्रकार से रक्षा करते थे।[2] एक यदि भिक्षा को जाता था तो दूसरा सुकुमारिका की रक्षा करता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाव्रतों एवं आचार के सामान्य नियमों को भंग करके भी जैन संघ भिक्षुणियों की रक्षा का प्रयत्न करता था। इसके मूल में यह भावना निहित थी कि संघ के न रहने पर वैयक्तिक साधना का क्या महत्त्व हो सकता है। वैयक्तिक साधना तभी तक सम्भव है, जब तक कि संघ का अस्तित्व है। अतः साध्वी की रक्षा एवं उसकी मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिये महाव्रतों की विराधना को भी किसी सीमा तक उचित माना गया।

ब्रह्मचर्य के मार्ग में आने वाली कठिनाई के निवारण के लिये जैनाचार्यों ने प्रारम्भ से ही प्रयत्न किया था। संघ में स्त्री-पुरुष के प्रवेश के समय से अर्थात् दीक्षा काल से ही इसकी सूक्ष्म छान-बीन की जाती थी। संघ का द्वार सबके लिये खुला होने पर भी कुछ अनुपयुक्त व्यक्तियों को उसमें प्रवेश की आज्ञा नहीं थी। ऋणी, चोर, डाकू, जेल से भागे हुए व्यक्ति, क्लीव, नपुंसक को दीक्षा देने की अनुमति नहीं थी। जैनाचार्यों को सबसे अधिक भय नपुंसकों से था। नपुंसकों के प्रकार, संघ में उनके द्वारा किये गये कुकृत्यों का विस्तृत वर्णन बृहत्कल्प भाष्य[3] एवं निशीथ चूर्णि[4] में मिलता है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैनाचार्य नपुंसकों के लक्षणों का पूरा ज्ञान रखते थे। नपुंसक ऐसी अग्नि के समान माने गये थे जो प्रज्वलित तो जल्दी होती है, परन्तु रहती देर तक है[5] (नपुंसकोवेदो महानगरदाहसमाना)। उनमें उभय वासना को प्रवृत्ति होती है। वे स्त्री-पुरुष दोनों को काम-वासना का आनन्द लेते हैं। इस कारण वे स्त्री-पुरुष दोनों की काम-वासना को प्रदीप्त करने वाले होते हैं। इनके कारण समलैंगिकता (Homosexuality) को प्रोत्साहन मिलता है और भिक्षु-भिक्षुणियों का चारित्रिक पतन होता है। अतः यह प्रयत्न किया गया था कि ऐसे व्यक्ति संघ में किसी प्रकार प्रवेश न पा सकें।

इन सभी सावधानियों के बावजूद कोई न कोई भिक्षुणी समाज के दुराचारी व्यक्तियों के जाल में फँस जाती थी। ऐसी परिस्थिति में उन्हें सलाह दी गई थी कि वे चर्मखण्ड, शाक के पत्ते,

१. निशीथ भाष्य, गाथा, 289।
२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग पंचम, 5254-59, पृ० 1397।
३. वही, 5139-64, पृ० 1368-1373।
४. निशीथ भाष्य, भाग तृतीय, गाथा 3561-3624 पृ० 240-254।
५. बृहत्कल्पभाष्य, भाग पंचम, 5148—टीका पृ० 1370।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्भ तथा हाथ से अपने गुप्तागों की रक्षा करें।[1] इतनी सावधानी रखने पर भी उस पर बलात्कार कर दिया जाता था और गर्भाधान हो जाता था। इस अवस्था में जब साध्वी का स्वयं का कोई दोष न हो, जैन संघ सच्ची मानवता के गुणों से युक्त होकर रक्षा करता हुआ उसकी सभी अपेक्षित आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। न तो वह घृणा की पात्र समझी जाती थी और न उसे संघ से बाहर निकाला जाता था। उसे यह निर्देश दिया गया था कि ऐसी घटना घटने के बाद सर्व-प्रथम वह आचार्य या प्रवर्त्तिनी से कहे। वे या तो स्वयं उसकी देखभाल करते थे या गर्भ ठहरने की स्थिति में उसे किसी श्रद्धावान श्रावक के घर ठहरा दिया जाता था। ऐसी भिक्षुणी को निराश्रय छोड़ देने पर आचार्य को भी दण्ड का भागी बनना पड़ता था। भिक्षुणी को भिक्षा के लिए नहीं भेजा जाता था, अपितु दूसरे साधु एवं साध्वी उसके लिए भोजन एवं अन्य आवश्यक वस्तुएँ लाते थे। ऐसी भिक्षुणी की आलोचना करने का किसी को अधिकार नहीं था। इस दोष के लिए जो उस पर ऊँगली उठता था या उसकी हँसी उड़ाता था, वह दण्ड का पात्र माना जाता था। इसके मूल में यह भावना निहित थी कि ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में उसकी आलोचना करने पर वह या तो निर्लज्ज हो जायेगी या लज्जा के कारण संघ छोड़ देगी। दोनों ही स्थितियों में उसका भावी जीवन के संकटपूर्ण होने तथा संघ की बदनामी का भय था। इस कारण उसके साथ सहानुभूति पूर्वक व्यवहार किया जाता था। इसके मूल में यह सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता थी कि बुरे व्यक्ति भी अच्छे बन सकते हैं और कोई कारण नहीं है कि एक बार सत्पथ से विचलित हुई भिक्षुणी को यदि सम्यक् मार्गदर्शन मिले तो वह सुधर नहीं सकती है। निशीथभाष्य में कहा गया है कि क्या वर्षा-काल में अत्यधिक जल के कारण अपने किनारों को तोड़ती हुई नदी, बाद में अपने रास्ते पर नहीं आ जाती है और क्या अंगार का टुकड़ा बाद में शान्त नहीं हो जाता है[2] ?

इस सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है। यह परिकल्पना की गई कि यदि मनुष्य हमेशा कार्य में लगा रहे तो बहुत कुछ अंशों में काम पर विजय पाई जा सकती है। निशीथ चूर्णि[3] में गाँव की कामातुर एक सुन्दर युवती का दृष्टान्त देकर उपर्युक्त मत को समझाने की सफल चेष्टा की गई है। वह सुन्दर युवती जो पहले अपने रूप-रंग एवं साज-शृंगार में व्यस्त रहती थी—कार्य की अधिकता के कारण काम-भावना को ही भूल जाती है, क्योंकि घर के सामान के रख-रखाव की जिम्मेदारी उसे सौंप दी गई थी। इस प्रतीकात्मक कथा के माध्यम से संघ के सदस्यों को यह सुझाव दिया गया था कि वे हमेशा ध्यान एवं अध्ययन में लीन रहें तथा मस्तिष्क को खाली न रखें।

दिगम्बर साहित्य में भिक्षुणियों के शील सम्बन्धी नियम :

जैनों के दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी भिक्षुणियों की शील-सुरक्षा के सम्बन्ध में अत्यन्त सतर्कता बरती गई थी। भिक्षुणियों को कहीं भी अकेले यात्रा करने की अनुमति नहीं थी। उन्हें

---

१. खंडे पत्ते तह दब्भचीवरे तह य हत्थपिहणं तु, अद्धाणविवित्ताणं-आगाढं सेसऽणागाढं।
—बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, 2986, पृ० 843।

२. उम्मग्गेण वि गंतुं, ण होति किं सोतवाहिणी सलिला, कालेण फुंफुगा वि य, विलीयते हसहसेउणं"।
—बृहत्कल्पभाष्य, भाग चतुर्थ, 4147 पृ० 1128।

३. निशीथ भाष्य, भाग द्वितीय, गाथा, पृ०21।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३, ५ या ७ की संख्या में ही एक साथ जाने का विधान था। उनकी सुरक्षा के लिए साथ में एक स्थविरा भिक्षणी भी रहती थी[१]। उन्हें उपयुक्त उपाश्रय में ही ठहरने का निर्देश दिया गया था। संदिग्ध चरित्र वाले स्वामी के उपाश्रय में रहना निषिद्ध था। उपाश्रय में भी उन्हें २, ३ या इससे अधिक की संख्या में ठहरने की सलाह दी गयी थी[२]। उन्हें यह निर्देश दिया गया था कि उपाश्रय में रहते हुए वे परस्पर अपनी रक्षा में तल्लीन रहें[३]। उपयुक्त उपाश्रय न मिलनेपर उन्हें रोष-बैर-माया आदि का त्याग कर, एकाग्र चित्त होकर ध्यान-अध्ययन करते हुए मर्यादापूर्वक रहने का निर्देश दिया गया था।[४]

नैतिक नियमों का पालन कठोरता से किया जाता था। उन्हें सांसारिक वस्तुओं के मोह से सर्वथा विरत रहने की सलाह दी गई थी। स्वयं स्नान करना तथा गृहस्थ के बच्चों को नहलाना तथा खिलाना पूर्णतया वर्जित था।[५] सुन्दर दीखने के लिये अपने शरीर को सजाना तथा सुशोभित करना भी सर्वथा निषिद्ध था।[६] भिक्षु-भिक्षुणियों के पारस्परिक सम्बन्धों के अति-विकसित होने से उनमें राग आदि की भावना उत्पन्न हो सकती थी—अतः उनके पारस्परिक सम्बन्धों को यथा-सम्भव मर्यादित करने का प्रयत्न किया गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों में भिक्षुणियों के शील-सुरक्षार्थ अत्यन्त सतर्कता बरती जाती थी। इस सम्बन्ध में परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए अनेक नियमों का निर्माण किया गया था। इन नियमों की प्रकृति से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैन धर्म के आचार्यों ने इस सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन किया था। यही कारण था कि उन्होंने जिन नियमों का सृजन किया था उनमें उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता के दर्शन होते हैं।

—शोध सहायक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
आई० टी० आई० रोड, वाराणसी।

---

१. मूलाचार, भाग प्रथम 4/194, पृ० 167।

२. "दो तिण्णि वा अज्जाओ बहुगीओ वा संहत्थंति"—मूलाचार, भाग प्रथम, 4/191, पृ० 164।

३. मूलाचार, भाग प्रथम, 4।188—पृ०, 162।

४. "अगृहस्थमिश्रनिलयेऽसन्निपाते विशुद्धसंचारे द्वे तिस्रो बह्व्यो वार्याः अन्योन्यानुकूलाः परस्पराभिरक्षणाभियुक्ता गतरोषवैरमायाः सलज्जमर्यादक्रिया अध्ययनपरिवर्तनश्रवणकथनतपोविनयसंयमेषु अनुप्रेक्षासु च तथास्थिता उपयोगयोगयुक्ताश्चाविकारवस्त्रवेषा जल्लमलविलिप्तास्त्यक्तदेहा धर्मकुलकीर्तिदीक्षाप्रतिरूपविशुद्धचर्याः सन्त्यस्तिष्ठन्तीति समुदायार्थः।"

—मूलाचार, भाग प्रथम, 4।191—टीका। पृ० 165।

५. वही, भाग प्रथम, 4।193, पृ० 164।

६. वही, भाग प्रथम 4।196, पृ० 168-169।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. कप्पसूत्त (कल्पसूत्रं) —प्राकृत भारती, जयपुर, 1977 ।

२. बृहत्कल्पभाष्य, — भाग तृतीय, जैन आत्मानन्द समा ।
(भद्रबाहु रचित) भावनगर, 1936 ।
,, भाग चतुर्थ, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, 1938 ।
,, भाग पंचम, ,, ,,

३. कप्पसूत्तं (बृहत्कल्पसूत्र) — सम्पादक-मुनि श्री कन्हैयालाल जी कमल, आगम अनुयोग प्रकाशन, बांकलीवास, सांडेराव, राजस्थान, 1977 ।

४. गच्छायार पइण्णयं —रामजी दास किशोरचन्द्र जैन ।
(गच्छाचार) मावसा मण्डी, पेप्सू, 1951 ।

५. ओघनिर्युक्ति (वृत्ति) —भद्रबाहु कृत, आगमोदय समिति, 1919 ।

६. निशीथ सूत्र (विशेष चूर्णि) —जिनदासमहत्तर विरचित ।
प्रथम भाग सन्मति ज्ञान पीठ-आगरा 1958 ।
द्वितीय भाग ,, ,, ,, ,, 1957 ।
तृतीय भाग ,, ,, ,, ,, 1958 ।

७. मूलाचार (प्रथम भाग) —वट्टकेराचार्य विरचित, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, गिरगांव, बम्बई, वि० सं० 1 77 ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org